क्या मुफ्त, अनिवार्य शिक्षा असम्भव है?

ज़्यां ड्रेज़

किसी ने सुझाव दिया था कि भारत प्राथमिक शिक्षा को मूलभूत अधिकार घोषित करके अपनी आज़ादी की पचासवीं सालगिरह मना सकता है। पहले तो इस प्रस्ताव की भरपूर प्रशंसा की गई और फिर इसे ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया। संसद ने स्वर्ण जयंती का जश्न अनगिनत भाषणों के साथ मनाना पसन्द किया था। इस स्थिति ने मुझे एक दुकान में रखे एक सेकण्ड हैण्ड टी.वी. पर लगे लेबल की याद दिला दी थी : 'सिर्फ आवाज़'।

शिक्षा को बुनियादी अधिकार बनाने सम्बंधी संविधान संशोधन विधेयक काफी लम्बे समय से धूल खाने के बाद बढ़ते जन दबाव के कारण अब संसद में प्रस्तुत होनेवाला है। किन्तु वास्तविक चुनौती तो इस संशोधन पर अमल करने की है। इस संशोधन के वित्तीय निहितार्थ से निपटना इस चुनौती का सबसे अहम पहलू नहीं है। कहा जा रहा है कि सरकार का फंसाव तीन परस्पर विरोधी प्राथमिकताओं की वजह से था : चुनिंदा राजकोषीय अनुशासन, शिक्षकों का उदार वेतन और शिक्षा का बुनियादी अधिकार।

पहली प्राथमिकता चुनिंदा राजकोषीय अनुशासन की है। इसमें 'चुनिंदा' शब्द बहुत अहमियत रखता है क्योंकि सामान्य राजकोषीय अनुशासन के लिए तो ऐसे कदम उठाना होंगे जो वर्तमान स्वीकार्य सीमाओं से परे हैं। जैसे सम्पन्न वर्ग को मिल रही सब्सिडी में कटौती, फौजी खर्च में कटौती और आयकर में भारी वृद्धि। ये ऐसे उपाय हैं जो शक्तिशाली खेमों के विरुद्ध जाएंगे और इसलिए अक्सर ऐसे उपाय नहीं किए जाते। इनकी बजाय राजकोषीय अनुशासन की तलवार कमज़ोर लक्ष्यों पर ही भांजी जाती है।

इस बात पर भी विवाद हो सकता है कि वास्तव में राजकोषीय अनुशासन कितना महत्व रखता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) अर्थशास्त्र पाठशाला के शिष्यों के लिए तो राजकोषीय अनुशासन वेदवाक्य बन गया है। इस नुस्खे को इस आधार पर उचित बताया जाता है कि मुद्रास्फीति को रोकने के लिए यह ज़रूरी है। किन्तु यह शायद ही कभी बताया जाता हो कि मुद्रास्फीति को इतना भयानक दैत्य क्यों माना जाता है। दिलचस्प बात यह है कि अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तकें इस विषय पर प्रायः मौन ही रहती हैं। फ्रैन्स हॉन ने 15 वर्ष पूर्व अपनी विख्यात पुस्तक 'मनी एण्ड इन्फ्लेशन' में मुद्रास्फीति को अपने आप में एक खराबी मानने के बारे में यह टिप्पणी की थी, 'यह एक ऐसी धारणा है जिसका खुलासा मानवशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को करना होगा - अर्थशास्त्री कोई मदद नहीं कर सकते।'

मुद्रास्फीति चुनौती नहीं है

गलतफहमी से बचने के लिए मैं यह स्पष्ट कर दूं कि अर्थशास्त्री मुद्रास्फीति से क्या समझते हैं। उनके अनुसार मुद्रास्फीति वह स्थिति है जब समय के साथ कीमतें तथा पारिश्रमिक बढ़ रहे हों। यह उस स्थिति से अलग है जब कीमतें तो बढ़ रही हों किन्तु पारिश्रमिक नहीं। यह दूसरी स्थिति साफ तौर पर अवांछनीय है और लोग इसका विरोध ठीक ही करते हैं। किन्तु यहां परिभाषित रूप में मुद्रास्फीति कोई खराब चीज़ हो, यह ज़रूरी नहीं है।

मुद्रास्फीति वह स्थिति है जब कीमतें तथा पारिश्रमिक बढ़ रहे हों। यह उस स्थिति से अलग है जब कीमतें तो बढ़ रही हों किन्तु पारिश्रमिक नहीं। यह दूसरी स्थिति साफ तौर पर अवांछनीय है और लोग इसका विरोध ठीक ही करते हैं। किन्तु यहां परिभाषित रूप में मुद्रास्फीति कोई खराब चीज़ हो, यह ज़रूरी नहीं है।

इस तरह की कार्यवाही के द्वार तो पहले से ही खुले हैं। संशोधन में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि शिक्षा के बुनियादी अधिकार का क्रियान्वयन कैसे किया जाएगा। यह अलग-अलग प्रान्तों पर छोड़ दिया गया है कि वे ज़रूरी कानून बनाएं। यद्यपि ऐसे कानून की विषयवस्तु को लेकर कुछ दिशानिर्देश सैकिया समिति की रिपोर्ट में हैं किन्तु शायद व्यवहार में इन दिशानिर्देशों का कोई प्रभाव न हो।

खास तौर से यदि कीमतों व पारिश्रमिक वृद्धि की दर कम हो तो मुद्रास्फीति में कोई बुराई नहीं है। मसलन भारत में अस्सी के दशक में कीमतें तकरीबन 10 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ रही थीं और पारिश्रमिक इससे थोड़ी अधिक दर से बढ़ रहा था। इसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में कोई खराबी नहीं आई थी। चीन की अर्थव्यवस्था में तो और भी ज़्यादा मुद्रास्फीति है लेकिन वह दुनिया की सफलतम अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। आम तौर पर, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि साधारण स्तर की मुद्रास्फीति से आर्थिक वृद्धि धीमी हो जाती है या इसके कोई अन्य बड़े आर्थिक या सामाजिक असर होते हैं।

फिर क्यों आईएमएफ जैसी नफीस संस्था संतुलित बजट और शून्य मुद्रास्फीति जैसी हास्यास्पद सिफारिशों में उलझ गई है। मेरा विचार है कि इस सवाल का जवाब मानवशास्त्री या मनोवैज्ञानिक नहीं बल्कि राजनीतिशास्त्रियों से मिलेगा - इस सिफारिश का सम्बंध मुद्रास्फीति से कॉर्पोरेट वित्तीय संस्थाओं की नफरत से है और इन संस्थाओं के राजनैतिक प्रभाव से है।

हो सकता है कि यह सब मुद्दे से हटकर लगे लेकिन मैं इस बात का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं क्योंकि इस बात का खतरा है कि भारत भी विपरीत प्राथमिकताओं के उस जाल में उलझ जाए जहां शिक्षा जैसे वास्तविक सामाजिक मुद्दों की बजाय मुद्रास्फीति नियंत्रण को सर्वोपरि महत्व दिया जाने लगता है। यूरोप के देशों में इस विपरीत प्राथमिकता ने काफी विशाल रूप धारण कर लिया है। वहां के वित्त मंत्रियों को मुद्रास्फीति को 2 से घटाकर 1 प्रतिशत करने में जितना जोश आता है उतना व्यापक बेरोज़गारी से संघर्ष करने में नहीं आता। इसी तरह का रवैया भारत में भी जड़ें जमाने लगा है। मसलन भूतपूर्व वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने एक व्याख्यान में भारत की अर्थव्यवस्था का आकलन निम्न शब्दों में किया था - 'हमें सबसे अधिक गर्व इस बात का है कि हम पिछले छह महीनों में मुद्रास्फीति की दर को 4 प्रतिशत पर रख पाने में सफल रहे हैं।' मैं सोचता हूं कि इस 'सफलता' को भारत के आर्थिक प्रदर्शन के आकलन में चलते-चलते ज़िक्र कर देने से ज़्यादा महत्व देने की ज़रूरत नहीं थी।

राजकोषीय अनुशासन

इतना जानने के बाद, भारत में राजकोषीय अनुशासन की ज़रूरत स्पष्ट है। करारोपण व खर्च का अपेक्षाकृत अधिक ज़िम्मेदारीपूर्ण व समतामूलक पैटर्न आम जनता के लिए काफी लाभप्रद होगा। किन्तु इसके लिए राजकोषीय अनुशासन के स्वरूप को कहीं अधिक समग्रतापूर्ण बनाना होगा। चुनिंदा दुर्बल लक्ष्यों से आगे जाना होगा।

चुनिंदा राजकोषीय अनुशासन की वर्तमान नीति का एक पहलू यह है कि कुछ क्षेत्रों में मितव्ययिता और कुछ अन्य क्षेत्रों में उदारता का मिश्रण किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के वेतन इस उदारहस्तता का एक उदाहरण हैं जिसकी परिणति पांचवें वेतन आयोग और उसके परिणामों में हुई। यह भी एक दिलचस्प तथ्य है कि कैसे इस विशाल वेतन देयक के भुगतान के लिए सरकार ने ज़रूरी संसाधन पलक झपकते जुटा लिए (विभिन्न करों में वृद्धि करके, तमाम चीज़ों में कटौती करके)। और यह भी उस समय जब कहा जा रहा था कि सामाजिक खर्च के लिए और पैसा नहीं है।

संशोधित वेतनमान के प्रमुख हितग्राही स्कूली शिक्षक नहीं हैं। फिर भी, उनके वेतन जो अस्सी के दशक में 9 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ रहे थे, अब कुलांचे भर रहे हैं। क्या यह एक अच्छी बात है? यह तर्क दिया जा सकता है कि शिक्षकों का बेहतर वेतन शिक्षा के बेहतर

यह सही है कि शिक्षकों को बेहतर कार्य परिस्थितियां मिलनी चाहिए किन्तु इसके लिए स्कूलों में बेहतर सुविधाएं, बेहतर प्रशिक्षण, कक्षाओं में कम बच्चे, शिक्षा विभाग को अफसरशाही से अधिक सम्मान, पालक समुदाय से बेहतर सहयोग आदि की अपेक्षा है। वेतन वृद्धि की अपेक्षा ये कदम शिक्षण स्तर को सुधारने और शिक्षकों के लिए कार्य संतुष्टि की दृष्टि से ज़्यादा कारगर होंगे।

स्तर का आश्वासन है। किन्तु चूंकि शिक्षकों को वेतन का भुगतान उनके प्रयासों से स्वतंत्र होता है, इसलिए इस प्रोत्साहन का असर कमज़ोर ही रहेगा।

कुछ ताज़ा अध्ययनों से पता चलता है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षकों के प्रदर्शन का उनके वेतन से कोई सम्बंध नहीं होता। यह भी एक गौरतलब तथ्य है कि ग्रामीण भारत में स्कूली शिक्षक आमदनी के लिहाज़ से ऊपरी 10 प्रतिशत में आते हैं। अतः और भौतिक लाभ देने का कोई औचित्य नहीं है। यह सही है कि शिक्षकों को बेहतर कार्य परिस्थितियां मिलनी चाहिए किन्तु इसके लिए स्कूलों में बेहतर सुविधाएं, बेहतर प्रशिक्षण, कक्षाओं में कम बच्चे, शिक्षा विभाग को अफसरशाही से अधिक सम्मान, पालक समुदाय से बेहतर सहयोग आदि की अपेक्षा है। वेतन वृद्धि की अपेक्षा ये कदम शिक्षण स्तर को सुधारने और शिक्षकों के लिए कार्य संतुष्टि की दृष्टि से ज़्यादा कारगर होंगे।

अब दो और दो को साथ रखकर देखा जाए। चुनिंदा राजकोषीय अनुशासन ने प्रभावी रूप से शिक्षा पर सार्वजनिक खर्च में वृद्धि पर रोक लगा दी है (दरअसल 1991-92 से सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा पर होने वाला खर्च वर्ष-दर-वर्ष घटता गया है)। दूसरी ओर शिक्षकों के वेतन में वृद्धि जारी रही। तथ्य यह है कि कुल शिक्षा खर्च का 95 प्रतिशत भाग वेतन है। लिहाज़ा शिक्षा मंत्रालय के पास इस खर्च की पूर्ति के लिए एक ही तरीका है - नए शिक्षकों की नियुक्ति पर रोक। हाल के वर्षों में ठीक यही हुआ है। इसका नतीजा यह है कि प्रति छात्र शिक्षक संख्या लगातार घट रही है।

शिक्षकों की नियुक्ति का

शिक्षकों की नियुक्ति में उक्त धीमापन प्राथमिक शिक्षा को बुनियादी अधिकार बनाने के प्रति घोषित संकल्प के विरुद्ध है। दरअसल इस अधिकार का एक पक्ष यह है कि देश के प्रत्येक नागरिक को अपने घर से उपयुक्त दूरी पर न्यूनतम स्कूली सुविधा पाने का हक है। इसके लिए स्कूली ढांचे में काफी बढ़ोत्तरी की आवश्यकता है। इसमें शिक्षकों की संख्या में वृद्धि भी शामिल है। स्थिति यह है कि स्कूलों में स्टाफ की इतनी कमी है कि कई स्कूल तो बच्चों को वहां बैठाए रखने के अलावा कुछ नहीं कर पाते। एकल शिक्षक स्कूल इस समस्या के ज्वलंत उदाहरण हैं मगर समस्या उन तक सीमित नहीं है।

शिक्षा के अधिकार के वित्तीय परिमाण का अनुमान लगाने के कई प्रयास हुए हैं। ये सभी मूलतः शिक्षकों की ज़रूरी संख्या और उनके वेतन पर आधारित हैं। सैकिया समिति के मुताबिक शिक्षा के बुनियादी अधिकार पर अमल के लिए नौवीं पंचवर्षीय योजना में अतिरिक्त 40,000 करोड़ रुपए की ज़रूरत थी। यह अनुमान पांचवें वेतन आयोग से पहले किया गया था और इसमें वेतन वृद्धि को हिसाब में नहीं लिया गया था। किन्तु आज के हालात को देखते हुए लगता है कि शिक्षा विभाग को शायद इतनी राशि की उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए। संक्षेप में, शिक्षा के बुनियादी अधिकार की वित्तीय लागत के जो अनुमान विभिन्न विशेषज्ञ समूहों व समितियों ने लगाए हैं, सरकार की ओर से उसे वहन करने की इच्छा का कोई संकेत नज़र नहीं आता।

इस अटकाव में से रास्ता क्या है? एक भविष्यवाणी यह थी कि प्रस्तावित संविधान संशोधन को चुपचाप छोड़ दिया जाएगा। इस संशोधन को मिलने वाले ज़बर्दस्त जन समर्थन के चलते इसकी सम्भावना कम ही थी। सर्वोच्च न्यायालय ने उन्नीकृष्णन प्रकरण (1993) में प्राथमिक शिक्षा के बुनियादी अधिकार को मान्यता पहले ही दे दी

है। ऐसी स्थिति में संसद के पास इसे मान्यता देने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा था।

बुनियादी अधिकार के बावजूद

आज जब यह संशोधन पारित करने को सरकार तैयार है, तब एक ज़्यादा आशावादी भविष्यवाणी यह है कि (जनहित याचिकाओं के रूप में) जन-दबाव वित्तीय अड़चनों को ध्वस्त कर देगा। यह एक रोचक उपसंहार होगा क्योंकि तब शायद राजकोषीय अनुशासन के हिमायतियों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के अन्य साधन खोजने होंगे।

सरकार के पास इस स्थिति से बच निकलने का एक और रास्ता यह है कि शिक्षा को बुनियादी अधिकार तो मान लिया जाए किन्तु उसकी परिभाषा इतनी कमज़ोर रखी जाए कि राज्य की ज़िम्मेदारी न्यूनतम ही रहे।

इस तरह की कार्यवाही के द्वार तो पहले से ही खुले हैं। संशोधन में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि शिक्षा के बुनियादी अधिकार का क्रियान्वयन कैसे किया जाएगा। यह अलग-अलग प्रान्तों पर छोड़ दिया गया है कि वे ज़रूरी कानून बनाएं। यद्यपि ऐसे कानून की विषयवस्तु को लेकर कुछ दिशानिर्देश सैकिया समिति की रिपोर्ट में हैं किन्तु शायद व्यवहार में इन दिशानिर्देशों का कोई प्रभाव न हो।

हो सकता है कि कुछ प्रान्त अपने कानूनों को अनिवार्य शिक्षा तक सीमित रखें जो बच्चों को स्कूल भेजने की पालकों की ज़िम्मेदारी पर केन्द्रित हों। कुछ अन्य प्रान्त यह कह सकते हैं कि सब बच्चों को न्यूनतम स्कूली सुविधा पाने का अधिकार है लेकिन यह स्पष्ट न करें कि ये न्यूनतम सुविधाएं क्या हैं (जैसे पहुंच की दृष्टि से सुविधाजनक होना, भौतिक ढांचे, शिक्षक छात्र अनुपात और शिक्षकों की योग्यता)। इसका अर्थ यह होगा कि राज्य सरकारें 'औपचारिकेतर शिक्षा केन्द्रों' या शिक्षाकर्मियों जैसी किसी सस्ती व्यवस्था के रूप में क्षतिपूर्ति सुविधा प्रदान करके पल्ला झाड़ लेंगी।

दरअसल कुछ राज्य तो चुपचाप ऐसे कदम उठाने भी लगे हैं जिनके ज़रिए प्राथमिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने के लिए सस्ती स्कूली व्यवस्था बनाई जा सके। मसलन हिमाचल प्रदेश के सरकारी स्कूलों में नियमित शिक्षकों से आधे वेतन पर 'स्वैच्छिक शिक्षकों' की नियुक्ति बड़े पैमाने पर की जा रही है। राजस्थान में दूरदराज़ के गांवों में शिक्षाकर्मियों का उपयोग शिक्षकों के एवज में किया जा रहा है। सस्ती स्कूली व्यवस्था के विकास में मध्यप्रदेश शायद सबसे आगे है। फिलहाल मध्यप्रदेश में कम से कम चार वैकल्पिक स्कूली व्यवस्थाएं मौजूद हैं - केन्द्र द्वारा प्रायोजित औपचारिकेतर शिक्षा केन्द्र, औपचारिक स्कूलों में नियुक्त शिक्षाकर्मी, 'वैकल्पिक शाला' और राज्य की नवाचारी शिक्षा गारंटी स्कीम के तहत निर्मित अनौपचारिक स्कूल। यह ज़रूरी नहीं है कि ये वैकल्पिक सुविधाएं औपचारिक स्कूलों के किफायती विकल्प के मकसद से बनाई गई हों। (इनमें से कुछ का निर्माण कतिपय अन्य कारणों से हुआ है।) मगर अब काफी दबाव है कि इनका उपयोग इस मकसद से किया जाए।

किफायती यानी सिर्फ आंकड़े

ये किफायती स्कूली व्यवस्थाएं कितनी कारगर हैं? इस तरह की व्यवस्थाओं की पहली पीढ़ी केन्द्र द्वारा प्रायोजित औपचारिकेतर शिक्षा केन्द्रों के रूप में थी, जो टांय टांय फिस्स रही। कई अध्ययन बताते हैं कि अधिकांश औपचारिकेतर केन्द्र ठप्प पड़े हैं। मात्र एक अध्ययन का हवाला पर्याप्त होगा। हिन्दी भाषी राज्यों के

हिमाचल प्रदेश के सरकारी स्कूलों में नियमित शिक्षकों से आधे वेतन पर 'स्वैच्छिक शिक्षकों' की नियुक्ति बड़े पैमाने पर की जा रही है। राजस्थान में दूरदराज़ के गांवों में शिक्षाकर्मियों का उपयोग शिक्षकों के एवज में किया जा रहा है। सस्ती स्कूली व्यवस्था के विकास में मध्यप्रदेश शायद सबसे आगे है। फिलहाल मध्यप्रदेश में कम से कम चार वैकल्पिक स्कूली व्यवस्थाएं मौजूद हैं - औपचारिकेतर शिक्षा केन्द्र, औपचारिक स्कूलों में नियुक्त शिक्षाकर्मी, 'वैकल्पिक शाला' और शिक्षा गारंटी स्कीम के तहत निर्मित अनौपचारिक स्कूल।

188 गांवों में किए गए प्रोब सर्वेक्षण से पता चला था कि ऐसे दस से भी कम केन्द्र वाकई काम कर रहे हैं। कागज़ों पर भारत में 2.4 लाख औपचारिकेतर शिक्षा केन्द्र हैं, अर्थात प्रत्येक दो गांवों में एक केन्द्र है। काम कर रहे केन्द्रों में भी शिक्षण कार्य न्यूनतम ही था। हद तो यह थी कि स्थानीय बाशिन्दे और स्कूल भी इनके अस्तित्व से बेखबर थे। 1221 परिवारों के सर्वेक्षण में मात्र 2 बच्चे ऐसे मिले जो वाकई किसी औपचारिकेतर केन्द्र में दाखिल थे। और सर्वेक्षण के दौरान एक भी बच्चा ऐसा नहीं मिला जो औपचारिकेतर केन्द्र से आगे बढ़कर औपचारिक स्कूल में पहुंचा हो, जबकि औपचारिकेतर केन्द्रों का एक लक्ष्य ही इसे सम्भव बनाना है।

किन्तु विफलता के इस तरह के संकेतों के बावजूद औपचारिकेतर केन्द्रों का निर्माण अबाध रूप से जारी है - वर्तमान टारगेट 3.5 लाख केन्द्रों का है। शिक्षा विभाग के एक उच्च अधिकारी ने दिल्ली में हाल ही में आयोजित एक सेमीनार में इस स्थिति का दो टूक बखान इन शब्दों में किया था - 'औपचारिकेतर शिक्षा जीवित है क्योंकि यह एक मुनाफादायक उद्योग है।'

किफायती शिक्षा सुविधा की दूसरी पीढ़ी में राज्यों द्वारा अपने स्तर पर शुरू किए गए प्रयास हैं जिनका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। ये कहीं बेहतर ढंग से नियोजित हैं तथा इनसे ज़्यादा आशाएं की जा सकती हैं। मसलन हिमाचल प्रदेश में स्वैच्छिक शिक्षक एक उपयोगी भूमिका निभाते लगते हैं। मध्यप्रदेश में शिक्षा गारंटी योजना के तहत स्थापित अनौपचारिक स्कूलों की भी यही स्थिति है हालांकि इस पहल का आकलन करना जल्दबाज़ी होगी।

स्थाई बनाम पूरक व्यवस्था

अलबत्ता दो बातों में अंतर किया जाना चाहिए। एक है एक पूरक अस्थाई व्यवस्था के रूप में इन सुविधाओं की भूमिका और दूसरी है कि इन्हें ही सामान्य स्कूल का स्थाई विकल्प मान लेना। स्कूल-त्यागी बच्चों के लिए वैकल्पिक शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध कराना यकीनन एक उपयोगी चीज़ है। इसी प्रकार से शिक्षकों की कमी से ग्रस्त किसी स्कूल में अस्थाई तौर पर शिक्षाकर्मी की नियुक्ति करना भी उपयोगी है। किन्तु यह दलील देना बिल्कुल अलग बात है कि ये औपचारिकेतर शिक्षा व्यवस्थाएं औपचारिक स्कूल का यथेष्ट विकल्प हैं।

अभी हाल तक इस दलील को मानने वाला कोई न था किन्तु राजकोषीय अनुशासन के दबाव में जब राज्य कम लागत की शिक्षा व्यवस्था का सहारा लेने लगा है, तब इस दलील को राजनैतिक स्तर पर स्वीकार किया जाने लगा है। इस ढंग से प्राथमिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने में स्पष्ट खतरा यह है कि यह विषमतापूर्ण है। यदि किफायती स्कूली व्यवस्था की गुणवत्ता मुख्यधारा स्कूलों के समान रहे तो बात अलग है। यदि ऐसा नहीं है तो यह द्विमार्गी फॉर्मूला शिक्षा में अवसरों की गैर-बराबरी का संस्थागत रूप बन जाएगा जबकि सर्वसुलभ प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य इस गैर-बराबरी को मिटाना है।

यह एक खुला प्रश्न है कि क्या किफायती शिक्षा सुविधाएं मुख्यधारा स्कूलों के समान गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान कर सकती हैं। सिद्धांततः तो यह असम्भव नहीं है। इन सुविधाओं की कम लागत मूलतः कम वेतन की वजह से है और यह दलील पहले ही दी गई थी कि वेतन का शिक्षा के स्तर से कोई सम्बंध हो यह ज़रूरी नहीं है। किन्तु वेतनों में इन अन्तरों का लम्बे समय तक निभ पाना संदिग्ध है (उपरोक्त तीनों ही राज्यों में कम वेतन वाले शिक्षक संगठित होकर अधिक वेतन की मांग करने लगे हैं)। इसके अलावा यह व्यवस्था समतापूर्ण भी नहीं है।

इस बात को प्रमाणित करना कि कम लागत की ये व्यवस्थाएं अच्छी गुणवत्ता की शिक्षा समतामूलक व टिकाऊ ढंग से प्रदान कर सकती हैं, उन लोगों की ज़िम्मेदारी है जो इस रणनीति के हिमायती हैं। बहरहाल, जन दबाव का केन्द्र यह होना चाहिए कि शिक्षा के बुनियादी अधिकार का असंक्षिप्त संस्करण लागू हो जिसमें सारे बच्चों को एक सामान्य शिक्षा व्यवस्था में शामिल किया जाए। और यदि यह फॉर्मूला महंगा है, तो हो।
(स्रोत फीचर्स)